शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मई : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, वैशाख ☆ अंक : एक

यह है गुरुदेव की घरेलू शैली का एक नमूना

* जिस प्रकार चने के स्वभाव में मिठास की शक्ति भरी है;

* किन्तु कचास के कारण वह तूरा लगता है और बोने से उगता है;

* और सेकने पर उसके स्वभाव का मीठा स्वाद प्रगट होता है तथा फिर वह उगता नहीं है। उसी प्रकार—

* आत्मा में मिठास अर्थात् शक्तिरूप से अतीन्द्रिय आनन्द भरा है;

* किन्तु उस शक्ति को भूलकर 'रागादि सो मैं, शरीर सो मैं'—ऐसी अज्ञानरूपी कचास के कारण उसे अपने आनन्द का अनुभव नहीं है, किन्तु आकुलता का अनुभव है तथा जन्म-मरण में वह अवतार धारण करता है।

* अपने स्वरूप सन्मुख होकर उसमें एकाग्रतारूपी अग्नि द्वारा सेकने पर (चैतन्य का प्रतपन होने पर) स्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है और फिर उसे अवतार नहीं होता।

— यह चने का दृष्टान्त पूज्य गुरुदेव ने अपने प्रवचनों में सैंकड़ों बार दिया है.... बिलकुल घरेलू पद्धति से समझाने की पूज्य गुरुदेव की कितनी स्पष्ट शैली है—यह इस पर से समझ में आयेगी।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१४५]

एक अंक चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ सौराष्ट्र

'आत्मा का शरीर!'

यह बाह्य शरीर और कर्म तो द्रव्यशरीर है, वह जड़ है। अंतर में 'देह सो मैं, राग सो मैं'—ऐसा भाव, वह विकाररूपी भावशरीर है; और देह से पार—राग से पार ज्ञानानन्दस्वभाव है, वह आत्मा का स्थायी अतीन्द्रिय आनन्द शरीर है।

चैतन्यमय आनन्द शरीर अनादि-अनंत स्थित रहनेवाला है; उस आनन्द शरीर को लक्ष में लेकर जहाँ लीन हुआ, वहाँ विकारीभावरूपी भावशरीर तथा जड़ के संयोगरूपी अचेतन शरीर—इन दोनों शरीरों का सम्बन्ध छूटकर आत्मा अतीन्द्रिय सिद्ध परमात्मा बन जाता है... वहाँ ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दरूपी शरीर रह जाता है... वही आत्मा का वास्तविक शरीर है। आत्मा का शरीर वह कहलाता है जो कभी आत्मा से पृथक् न हो। आत्मा में जो केवलज्ञान और पूर्ण आनन्द प्रगट हुए, वे कभी आत्मा से पृथक् नहीं होते; इसलिये वह ज्ञान और आनंद ही आत्मा का सच्चा शरीर है। इस बाहरी जड़ शरीर का संयोग तो अनंत बार आया और छूट गया—वह शरीर आत्मा का है ही नहीं; अंतर में रागादि भावरूप शरीर भी छूट जाता है, वह भी आत्मा का सच्चा शरीर नहीं है। असंख्य प्रदेशों में ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण आत्मा का शरीर है... इसलिये हे भाई! इस जड़ शरीर के साथ की तथा रागादि के साथ की एकताबुद्धि छोड़ और अंतर में तेरा जो ज्ञान-आनन्दमय शरीर है, उसके साथ एकता कर ताकि इस जड़ देह का सम्बन्ध छूट जाये... तथा कभी न छूटे ऐसे अतीन्द्रिय केवलज्ञानमय चैतन्य शरीर की प्राप्ति हो।

(—व्याख्यान से)

आत्मधर्म

मई : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, वैशाख ☆ अंक : १

जिनशासन की महिमा

[३]

[श्री भावप्राभृत गाथा ८०-८१-८२ के प्रवचनों से]

सम्यक्त्वी जीव मुनि होने से पूर्व भी शुद्ध आत्मा की भावना भाता है कि अहो! मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ; अपने आत्मा के आनन्द में मैं कब लीन होऊँ? आत्मा में लीन होकर मैं कब रत्नत्रय प्रगट करूँ! अहो! धन्य है उस दशा को और उस भाव को कि जब आत्मा में लीन होकर मुनिदशा होगी।

अहो! मुनिवर आत्मा के आनन्द में झूलते हैं... बारम्बार अंतर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं... बाह्यदृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है... मुनियों के अंतर में आत्मानन्द का सागर उछल रहा है... उपशमरस की बाढ़ आई है।

जैनधर्म की श्रेष्ठता इस प्रकार है कि वह भावी भव का नाश करता है; संसार का अन्त करके मुक्ति देता है—इसीलिये जैनधर्म की महिमा है। इसके अतिरिक्त अन्य रीति से—पुण्यादि से जैनधर्म की महिमा माने तो उसने जैनशासन को जाना ही नहीं...

अहा! जैनधर्म क्या वस्तु है—वह बात लोगों ने यथार्थरूप से सुनी भी नहीं है। एक क्षण भी जैनधर्म प्रगट करे तो अनन्त भव का 'कट' हो जाये और आत्मा में मोक्ष की छाप लग जाये—मुक्ति की नि:शंकता हो जाये।—ऐसा जैनधर्म है; इसलिये हे भव्य! भव का नाश करने के लिये तू ऐसे जैनधर्म की भावना कर!

अभी तो जो अनन्त भव की शंका में पड़ा हो—अरे! भव्य-अभव्य की भी शंका में पड़ा हो—ऐसे जीव को तो जैनधर्म की गन्ध भी नहीं आई है।

अब कहते हैं कि हे मुनि! बारह प्रकार के तप आदि भी भावशुद्धि के निमित्त ही हैं; इसलिये भाव विशुद्धि के निमित्त से तू उन तपादि की भावना कर।

भाव विशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; वह तो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के ही अवलम्बन से है; उस विशुद्धता के निमित्त से तू बारह प्रकार के तप तथा तेरह प्रकार की क्रियाओं की भावना कर; अर्थात् उन सबमें शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की मुख्यता रख और ज्ञानरूपी अंकुश द्वारा मदोन्मत्त मनरूपी हाथी को वश में कर। जो मन, बाह्य विषयों में भटकता है, उसे ज्ञान की एकाग्रतारूपी अंकुश द्वारा अंतरोन्मुख कर। चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता में शुद्धभाव होने से बारह प्रकार के तपादि सहज ही हो जाते हैं। अंतर में चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन बिना शांति या शुद्धता नहीं होती। 'मैं अनंत शक्ति का चैतन्य पिण्ड आत्मा हूँ'— इसप्रकार अन्तर्मुख लक्ष करके एकाग्र होना, वह शांति का तथा भाव शुद्धि का उपाय है। ऐसी भाव शुद्धि के बिना तपादि को यथार्थ नहीं कहा जाता; क्योंकि आत्मस्वभाव में एकाग्रता के बिना वास्तव में विषयों का निरोध नहीं होता। हे उत्तम मुनि! तेरा मनरूपी हाथी मोह से मदोन्मत्त होकर बाह्य में विषय-कषायों का चारा चरने न जाय किन्तु अंतर में आनन्द का चारा चरे, उसके लिये तू ज्ञानरूपी अंकुश द्वारा उसे वश कर; अर्थात् अपने ज्ञान को अंतरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा में एकाग्र कर। तपश्चरणादिक का उपदेश भी अंतर में एकाग्रतारूप भाव शुद्धि के लिये ही है।

अब, जिनशासन में मुनि को द्रव्य तथा भाव की दशा कैसी होती है, मुनि को अंतरंग भाव शुद्धिरूप भावलिंग, तथा बाह्य में द्रव्यलिंग कैसा होता है—वह कहकर जिनलिंग का स्वरूप बतलाते हैं।

मुनियों ने, मुनिदशा होने से पूर्व परद्रव्यों से भिन्न शुद्ध आत्मा के स्वरूप को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर बारम्बार उसकी भावना भायी थी; पूर्वकाल में भायी हुई शुद्ध आत्मा की भावना से अंतरंग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध निर्मलदशा हुई है, वह तो मुनि का भावलिंग है तथा ऐसी भाव शुद्धिपूर्वक वस्त्रादि रहित दिगम्बरदशा, भूमिशयन, पंचमहाव्रतादि होते हैं, वह द्रव्यलिंग है।—इस प्रकार द्रव्य से और भाव से निर्दोष जिनलिंग हो वही, मुनिदशा है।

अहो! जहाँ चैतन्य के आनन्द में एकदम लीन होने की तैयारी हुई, वहाँ शरीर के प्रति ऐसी उदासीन वृत्ति हो जाती है कि वस्त्रादि का त्याग भी सहज ही हो जाता है। चारित्रदशा प्रगट करके

चिदानन्दस्वभाव में लीन होने की योग्यता हुई और उसप्रकार के कषाय दूर हो गये, वहाँ वस्त्र रखने की वृत्ति नहीं रहती—इतनी निर्विकारी दशा हो जाती है कि वस्त्र से शरीर को ढँकने की वृत्ति नहीं रहती—ऐसी होती है जैनमुनियों की दशा!

मुनिदशा होने पर बाह्य में वस्त्रों का छूट जाना तथा शरीर की दिगम्बरदशा होना, वह तो जड़ की अवस्था है; उस अवस्था की कर्तृत्वबुद्धि तो धर्मी को है ही नहीं—ज्ञानानन्दस्वभाव की ही दृष्टि है; इसके अतिरिक्त सभी जगह से कर्तृत्व-स्वामित्व उड़ गया है।—ऐसी दृष्टि बिना कभी किसी के मुनिपना अथवा धर्मीपना नहीं होता।

और ऐसी शुद्ध आत्मा की दृष्टि होने पर भी जबतक वस्त्रादि परिग्रह का राग भाव हो, तब तक मुनिदशा नहीं होती; वहाँ पंचम गुणस्थान का श्रावकपना हो सकता है किन्तु छट्ठे-सातवें गुणस्थानरूप मुनिपना तो कदापि नहीं हो सकता।

मुनिवरों को अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव है, वह भावलिंग है, और शरीर की निर्ग्रन्थदशा आदि होती है, वह द्रव्यलिंग है;—ऐसा भाव तथा द्रव्यरूप जिनलिंग जैनशासन में कहा है। जहाँ वस्त्रादि का सर्वथा त्याग नहीं है तथा अंतर में शुद्ध रत्नत्रय का भाव नहीं है, वहाँ जिनशासन का मुनिपना नहीं होता। जो जिनशासन से विपरीत मुनिदशा बतलाये, वह मिथ्यादृष्टि है।

मोक्ष का साधन जो शुद्ध रत्नत्रय है, उसे धारण करनेवाले मुनिवर मुख्यतः तो वन जंगल में, गिरि-गुफाओं में रहते हैं, दिन में एक ही बार विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेते हैं; भूमि-शयन करते हैं तथा द्रव्य और भाव से संयम का पालन करते हैं। अंतर में भाव संयम हो और बाह्य में द्रव्यसंयम न हो, अर्थात् गृहवास में रहते हों और मुनिपना हो—ऐसा कभी नहीं होता।

पुनश्च, जिनशासन में मुनि कैसे हैं?—कि पूर्वकाल में जो शुद्धभाव की भावना भायी है, उसका बारम्बार अनुभव करते हैं। पहले से ही शुद्ध आत्मा के भानसहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव की भावना भायी है; राग की भावना नहीं, किन्तु शुद्धता की ही भावना भायी है; मैं परद्रव्यों से भिन्न तथा परभावों से भी भिन्न शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी आत्म-भावना पहले से ही भायी है; वह पूर्व भावित भावना भाकर मुनिदशा में बारम्बार शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं। देखो, यह मुनि की दशा!! मुनिदशा कहो या जिनलिंग कहो या मोक्षमार्ग कहो—उसकी ऐसी दशा है। जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव है—ऐसा जैनधर्म का चिह्न है।

आत्मा, जड़ से तथा कर्मों से पृथक् ज्ञानानन्दस्वरूप है; सम्यक्त्वी जीव उसकी बारम्बार भावना भाता है और मुनि होने के पश्चात् उसका बारम्बार अनुभव करता है। प्रथम तो जिसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान ही न हो, वह उसका बारम्बार अनुभव कहाँ से करेगा? और शुद्ध आत्मा के बारम्बार अनुभव बिना मुनिदशा नहीं होती। मुनि होने से पूर्व भी उस शुद्ध आत्मा की भावना भायी है कि अहो! मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ; ऐसे आत्मा के आनन्द में मैं कब लीन होऊँ। आत्मा में लीन होकर कब रत्नत्रय प्रगट करूँ! अहो! धन्य है उस दशा को और उस भाव को कि जब आत्मा के आनन्द में लीन होकर मुनिदशा होगी!—ऐसी भावनाएँ आत्मभानसहित मुनि होने से पूर्व भायी हैं। अब मुनिदशा में उन भावनाओं को भाकर बारम्बार आनन्द के अनुभव में लीन होते हैं; अंतर में लीनता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति हो गई है। अहो! मुनिवर आत्मा के आनन्द में झूलते हैं; बारम्बार अंतर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं। बाह्य दृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है। मुनि की बाह्य दशा तो बिलकुल नग्नदिगम्बर ही होती है तथा अंतर में आत्मा की शांति का सागर उछलता है... आनन्द का सागर उछलता है... उपशमरस का ज्वार आया है। अभी महाव्रतादि की शुभवृत्ति उठती है किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानते हैं। शुभराग की भावना नहीं है किन्तु शुद्ध चैतन्य की ही भावना है... और उस भावना के बल से अंतर में लीन होकर चैतन्य के कपाट खोल दिये हैं... चैतन्य के कपाट खोलकर भीतर से ज्ञान और आनन्द को बाहर निकाला है। अंतर में ऐसे शुद्ध भावसहित मुनिदशा होती है; और ऐसा शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है। अंतर में ऐसे शुद्धभाव के बिना मात्र महाव्रतादि का पालन करे—द्रव्यलिंग धारण करे—तो वह सिर्फ पुण्य के आस्रव का कारण है, किन्तु उसमें धर्म नहीं है। इसलिये आचार्यदेव ने कहा है कि पूर्वकाल में जो शुद्धात्मा जाना था और उसकी भावना थी—उसी को बारम्बार भाकर तथा अनुभव करके जिन्होंने सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट किया है, उन्हीं के मुनिदशा होती है।

प्रथम ऐसी श्रद्धा और पहिचान करना चाहिये कि—शुद्ध आत्मा के अंतर अवलोकन से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है तथा शुभराग मोक्ष का कारण नहीं है।—ऐसी सम्यक् श्रद्धा और पहिचान करे, वह भी सत्य मार्ग में है; किन्तु श्रद्धा ही विपरीत रखे, शुद्धभाव को न पहिचाने तथा राग को धर्म माने तो वह विपरीत मार्ग पर है। भव का अंत शुद्ध सम्यग्दर्शनादि भाव द्वारा ही होता है और उसी से जैनशासन की श्रेष्ठता है।

जैनधर्म की महिमा गाते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि :—

'जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं॥८२॥'

जिसप्रकार रत्नों में श्रेष्ठ वज्ररत्न है, वृक्षों में श्रेष्ठ गोशीर-चंदन है, उसी प्रकार धर्मों में एक जैनधर्म ही श्रेष्ठ है।—कैसा है जैनधर्म ? कि—'भावि भवमथनं' अर्थात् आगामी भव भ्रमण का मंथन कर देनेवाला है; भवभ्रमण का नाश करके मोक्ष देनेवाला है। इसलिये हे जीव ! भव का नाश करने के लिये तू ऐसे जैनधर्म की भावना कर।

अहो ! 'भावि भवमथनं' विशेषण लगाकर तो आचार्यदेव ने जैनधर्म की अचिंत्य महिमा प्रगट की है। जिस भाव से भवभ्रमण का नाश हो, वही जैनधर्म है। जिससे भव भ्रमण का नाश न हो, वह जैनधर्म नहीं है। देखो, यह जैनधर्म की श्रेष्ठता !!

कर्मों के अनेक पक्षों का ज्ञान कराया, इसलिये क्या जैनधर्म की श्रेष्ठता है ?—तो कहते हैं कि नहीं। एकेन्द्रियादि जीवों का सूक्ष्म-सूक्ष्म ज्ञान कराया; इसलिये क्या जैनधर्म की श्रेष्ठता है ?-तो कहते हैं कि नहीं।-तो फिर किस प्रकार जैनधर्म की श्रेष्ठता है ? जैनधर्म की श्रेष्ठता इसप्रकार है कि वह भावि भव का नाश करता है; संसार का नाश करके मुक्ति देता है, और इसी से जैनशासन की महिमा है। इसके सिवा अन्य प्रकार से-पुण्यादि से ही जैनशासन की महिमा माने तो उसने वास्तव में जैनशासन को जाना ही नहीं है। अभी ८३ वीं गाथा में इस बात को विशेष स्पष्ट करेंगे।

जैनधर्म राग का रक्षक नहीं है, किन्तु उसका नाश करके वीतरागता का उत्पादक है; भव का नाश करके मोक्ष का देनेवाला है। अनादिकालीन मिथ्यात्वादि का नाश करके, सम्यक्त्वादि अपूर्व भाव प्रगट हों, उसका नाम जैनधर्म है। भव का मंथन कर दे—नाश कर दे, वही जैनधर्म है। अभी जो अनंत भव की शंका में पड़ा हो, अरे ! भव्य-अभव्य की शंका में भी पड़ा हो—ऐसे जीव को तो जैनधर्म की गंध भी नहीं आई है। आहा ! जैनधर्म क्या वस्तु है, उसकी बात भी लोगों ने यथार्थरूप से नहीं सुनी है ! एक क्षण भी जैनधर्म प्रगट करे तो अनन्त भव का 'कट' हो जाये और आत्मा में मोक्ष की छाप उतर आये—मुक्ति की निःशंकता हो जाये।—ऐसा जैनधर्म है; यही जैन धर्म की श्रेष्ठता है। इसलिये भव का नाश करने के लिये हे भव्य ! तू ऐसे जैनधर्म की भावना भा।

देखो, भव का नाश करे, वह जैनधर्म।

—तो भव का नाश किस प्रकार होता है ? क्या दयादि के शुभराग से भव का नाश हो सकता है ? नहीं; इसलिये शुभराग, वह जैनधर्म नहीं है।

शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के स्वभाव का आश्रय करने पर ही सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भावों द्वारा भव का नाश होता है; इसलिये शुद्ध आत्मा का आश्रय ही जैनशासन है; पुण्य, वह जैनशासन नहीं है; तथा उस पुण्य द्वारा जैनधर्म की महिमा नहीं है। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का आश्रय कराके मिथ्यात्व तथा रागादि का नाश कराता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा भव का नाश कराके मोक्षपद प्रदान करता है—वह जैनधर्म की महिमा है।

जैसे—चंदन की महिमा क्या? कि ताप हरकर शीतलता प्रदान करे; उसी प्रकार जैनधर्म की महिमा क्या? कि भव के ताप का नाश करके मोक्ष की परम शीतलता प्रदान करे, वह जैनधर्म की महिमा है। राग में तो आकुलता है, वह जैनधर्म नहीं है।

प्रश्नः—सम्यक्त्वी धर्मात्मा को भी राग तो होता है?

उत्तरः—सम्यक्त्वी को भी जो राग है, वह कहीं जैनधर्म नहीं है; उसे राग से पार चिदानन्द तत्त्व की दृष्टि में जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, वही जैनधर्म है। मोक्षमार्ग की पूर्णता न हुई हो, वहाँ साधक धर्मात्मा को शुद्धता के साथ राग भी होता है, किंतु वहाँ धर्म तो जितनी शुद्धता हुई, वही है; राग शेष रहा उसे धर्मात्मा धर्म नहीं मानते; और जो राग को धर्म मानता है, उसे तो धर्म का अंश भी नहीं होता।

राग रहे, पुण्य बंध हो और स्वर्गादि का भव मिले, वह जैनधर्म नहीं है; तथा उससे जैनधर्म की महत्ता नहीं है; किन्तु जिससे चारों गति के भव का नाश होकर सिद्धपद प्रगट हो, वह जैनधर्म है; और उसी से जैनधर्म की महत्ता है।

यह 'भावप्राभृत' है; इसमें आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि आत्मा का कौनसा भाव धर्म है? अथवा आत्मा के किस भाव से जैनधर्म की महिमा है?—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी शुद्धभाव, वह धर्म है; उसके द्वारा भव का नाश हो जाता है तथा उसी से जिनशासन की महिमा है।

धर्मी जानते हैं कि मेरा चिदानन्दस्वभाव भव रहित है; भव के कारणरूप विकार मेरे मूल स्वभाव में है ही नहीं; भवरहित ऐसा जो मेरा चिदानन्दस्वभाव है, उसमें एकता करके शुद्धभाव प्रगट करने पर भव का अभाव हो जाता है—वही मेरा धर्म—जैनधर्म है और उसी से जैनधर्म की महिमा है। भूमिकानुसार राग होता अवश्य है किन्तु उससे जैनधर्म की महिमा नहीं है। जैनधर्म तो वीतरागभावरूप है और राग, वीतरागभाव का साधक नहीं किन्तु बाधक है; इसलिये वह धर्म नहीं है।

धर्मात्मा सम्यक्त्वी को साधक और बाधक दोनों भाव एक साथ होते हैं, किन्तु उनमें साधक भाव ही धर्म है—बाधक भाव धर्म नहीं है; राग, बाधक भाव ही है; वह धर्म नहीं है।

धर्मात्मा-सम्यक्त्वी को भी शुभराग होता है, इसलिये वह धर्म है—ऐसा यदि कहते हो, तब तो सम्यक्त्वी को कभी-कभी अशुभराग भी होता है, तो क्या वह धर्म है ?—नहीं। जिस प्रकार सम्यक्त्वी को अशुभराग होने पर भी वह धर्म नहीं है; उसी प्रकार शुभराग भी धर्म नहीं है; धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का है।—ऐसे धर्म को पहिचानकर उसकी भावना-आराधना करना, वह मोक्ष का कारण है।

सम्यक्त्व की महिमा सूचक

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—जगत में कौन सुकृतार्थ है ?

उत्तर—सिद्धि करनेवाले ऐसे सम्यक्त्व को जिसने स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वही पुरुष सुकृतार्थ अर्थात् कृतकृत्य है। (—मोक्षपाहुड़, ८९)

प्रश्न—जगत में कौन सचमुच वीर है ?

उत्तर—सिद्धि करनेवाले ऐसे सम्यक्त्व को जिसने स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वही वास्तव में वीर है। (—मोक्षपाहुड़, ८९)

श्री सम्मेदशिखरजी वगैरह तीर्थधामों की यात्रा निमित्त

पूज्य गुरुदेव का मंगल-विहार

(परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने सोनगढ़ से कार्तिक सुदी पूर्णिमा को तीर्थयात्रा निमित्त मंगल विहार किया... पालेज में श्री अनंतनाथ भगवान की वेदी प्रतिष्ठा तथा बंबई में महान प्रभावना करते हुये आप जगह जगह की तीर्थयात्राऐं करते हुए फिर रहे हैं। पूज्य गुरुदेव के सोनगढ़ से धंधुका और मुंबई से इन्दौर तक के विहार के संस्मरण गतांक में दिये जा चुके हैं। उसके बाद के समाचार यहाँ दिये जा रहे हैं। पूज्य गुरुदेव के साथ प्रवास में होने के कारण समाचार विस्तृतरूप से देने में असमर्थ रहे हैं, जिसके लिये क्षमा करें। सोनगढ़ पहुँचे बाद विस्तार पूर्वक यात्रा समाचार सचित्र फोटो सहित देने की भावना है।)

—ब्र० हरिलाल जैन

जैन समाज के सुप्रसिद्ध संत पू० श्री कानजीस्वामी सम्मेदशिखरजी वगैरह तीर्थधामों की यात्रा निमित्त एक बड़े संघ सहित विहार कर रहे हैं, इस संघ में २४ मोटर तथा ८ बसें हैं। जिस नगर व ग्राम में गुरुदेव पधारते हैं, वहाँ के हजारों मुमुक्षु, आपके प्रवचन सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाते हैं, तथा वहाँ की जैनाजैन समाज आपके स्वागत के लिये उमड़ पड़ती है। सिद्धवरकूट से यात्रा करके संघ सहित पू० गुरुदेव जब इन्दौर पधारे, तब वहाँ की जैन समाज ने बड़े उत्साह उमंग सहित आपका भव्य स्वागत किया। श्री सरसेठ हुकमचन्दजी सा० के सुपुत्र भैय्या साहब राजकुमारसिंह जी स्वागताध्यक्ष थे। शहर में स्थान स्थान पर दरवाजे बनाये गये व पताकाएँ बाँधी गई थीं। स्वागत जुलूस में सबसे आगे हाथी पर धर्मध्वज, पीछे घुड़सवार तथा बेंड बाजे वगैरह थे, लगभग १ मील लंबा जुलूस देखते ही बनता था। पू० गुरुदेव के प्रवचन में ८-१० हजार की संख्या में श्रोताजन आकर धर्म लाभ लेते थे। इन्दौर की जैन समाज की तरफ से भैय्या सा० श्री राजकुमार सिंहजी के द्वारा एक अभिनंदन पत्र पूज्य गुरुदेव को दिया गया था। मध्य भारत के गृह मंत्री श्री मिश्रीलालजी गंगवाल भी प्रवचनों में पधारते थे और प्रवचन सुनकर बहुत प्रभावित हुये थे। उन्होंने संत-समागम की महिमा का एक भजन भी बोला था। रात्रि चर्चा में भी दूर-दूर के हजारों लोग आते थे। पू०

गुरुदेव व संघ की व्यवस्था के निमित्त एक बड़ी स्वागत समिति बनी थी, और संघ के ठहरने के निमित्त व भोजन की व्यवस्था बहुत ही सुन्दर की गई थी। सर सेठ साहेब के सारे परिवार ने बहुत ही उमंग व प्रेम के साथ ४ दिन तक संघ की व्यवस्था में भाग लिया था। श्री सर सेठ हुकमचंदजी सा० भी प्रवचन में आया करते थे। अन्तिम दिवस भैय्या सा० राजकुमारसिंहजी ने बहुत ही प्रभावक भाषण दिया था और पू० गुरुदेव के संघ सहित फिर पधारने के लिये व चातुर्मास करने के लिये विनती की थी। पू० गुरुदेव ४ दिन इन्दौर में विराजे थे, इस दरमियान में गुरुदेव के प्रवचनों व तत्त्वचर्चा सुनकर वहाँ की जनता बहुत ही प्रभावित हुई थी और पू० गुरुदेव का ऐसा महान प्रभाव देखकर जनता आश्चर्यचकित हो रही थी। (इन्दौर में सरसेठ सा० द्वारा निर्मित काँच का मंदिर बहुत ही मनोज्ञ व दर्शनीय है। तथा और जिनमंदिर भी बहुत मनोज्ञ हैं)।

ता० ३१ जनवरी १९५७

इन्दौर से पू० गुरुदेव संघ सहित उज्जैननगरी पधारे। वहाँ जैनसमाज की तरफ से १० हजार जनता द्वारा शानदार स्वागत किया गया था। प्रवचन में चार पाँच हजार श्रोताओं की उपस्थिति रहती थी। संघ के रहने की व जीमने आदि की सुन्दर व्यवस्था यहाँ के दिगम्बर जैन समाज द्वारा की गई थी। पू० गुरुदेव इस प्रान्त में जहाँ जहाँ पधारे वहाँ वहाँ की दिगम्बर जैन समाज की तरफ से बहुत ही उल्लासपूर्वक भव्य स्वागत हुए। हार्दिक वात्सल्यपूर्वक दिगम्बर जैन समाज द्वारा पू० गुरुदेव के प्रति श्रद्धा प्रगट की जा रही है, और गुरुदेव द्वारा जैन धर्म की महान प्रभावना हो रही है। आगे आनेवाले शहरों व ग्रामों की जनता भी पू० गुरुदेव के स्वागत करने के लिये बहुत उत्कंठित हो रही थी। इतना ही नहीं, आसपास के गाँव और शहरों की समाज द्वारा पू० गुरुदेव को पधारने के निमित्त निमन्त्रण आते जा रहे थे परन्तु कार्यक्रम निश्चित होने की वजह से बहुतों को निराश होना पड़ रहा था।

उज्जैन से पू० गुरुदेव भोपाल पधारे, यहाँ की जनता ने भी बहुत ही उल्लासपूर्वक स्वागत किया, ४-५ हजार जनता ने प्रवचन में भाग लिया। संघ उज्जैन से मक्सी पार्श्वनाथ होते हुए गुना शहर पहुँचा, इस बीच में दो गाँवों के साधर्मी लोगों ने प्रेम पूर्वक संघ को चाय पानी की व्यवस्था के लिये रोका था। ता० २ फरवरी के दिन पू० गुरुदेव गुना पधारे, वहाँ ८-१० हजार जैनाजैन जनता ने भव्य स्वागत किया, प्रवचन के लिये सुन्दर मंडप बना था, आसपास के गाँवों से हजारों की तादाद में जनता पू० गुरुदेव के प्रवचन सुनने के लिये आई थी। प्रवचन में १०-१२ हजार आदमी होते थे।

यहाँ से ४-४ माइल दूर बजरंगगढ़ में श्री शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ भगवन्तों की १५-२० फुट ऊँची भव्य प्रतिमायें विराजमान हैं। उनके दर्शनार्थ पू० गुरुदेव संघ सहित पधारे थे। जगह-जगह ऐसे भव्य भगवन्तों को देखकर पू० गुरुदेव व अन्य भक्तजनों को बहुत प्रसन्नता हुई थी। गुना में भी संघ के ठहरने व भोजनादि की व्यवस्था यहाँ की दिगम्बर जैन समाज की ओर से हुई थी।

गुना से पू० गुरुदेव ललितपुर पधारे। यहाँ भी जैन संघ द्वारा प्रेमपूर्वक गुरुदेव का स्वागत किया गया व प्रवचनों का लाभ लिया। वहाँ से वापिस लौटते हुए गुरुदेव ने चंदेरी में विराजमान चौबीस भगवन्तों के दर्शन किये। चन्देरी की जैन जनता ने गुरुदेव का भव्य स्वागत किया। चन्देरी के बाद थूवोनजी क्षेत्र में विराजमान बड़ी बड़ी २५ खड्गासन प्रतिमाओं के दर्शन करने संघ के बहुत से आदमी गये थे।

ता० ५ फरवरी को गुरुदेव झांसी शहर पधारे। वहाँ की जैन समाज ने उत्साहपूर्वक गुरुदेव का स्वागत किया, भोजनादि की व्यवस्था दि० जैन समाज द्वारा हुई थी।

६ फरवरी को झाँसी से सोनागिर आये। यहाँ से श्री नंग अनंगकुमार तथा अन्य करोड़ों मुनिवरों ने सिद्धपद प्राप्त किया। छोटा सा सुन्दर पर्वत है, इस पर ७७ मन्दिर हैं, मुख्य मंदिर में १५ फुट ऊँची बहुत ही प्राचीन श्री चन्द्रप्रभु भगवान की मूर्ति विराजमान है। चौक में श्री बाहुबलिस्वामी की भव्य प्रतिमा है। ता० ७ के दिन पूज्य गुरुदेव ने संघ सहित इस सिद्ध क्षेत्र की यात्रा बहुत ही भक्तिभाव से की। पर्वत पर सुन्दर भक्ति हुई थी, पहाड़ पर नंग-अनंग मुनियों के चरण कमल हैं, नीचे १७ मन्दिर हैं, जिनके दर्शन किये व भक्ति की। यहाँ धर्मशाला की व्यवस्था सुन्दर है।

८ फरवरी के दिन ग्वालियर (लश्कर) पहुँचे, ५-६ हजार की जनता ने भव्य स्वागत किया। ग्वालियर के किले में तथा पहाड़ में (एक पत्थर की बावड़ी कहलाती है, वहाँ) बहुत बड़ी-बड़ी जिन प्रतिमायें, खुदी हुई हैं, जो आज भी खंडित अवस्था में भी दिगम्बर जैन धर्म की प्राचीनता व जाहोजलाली के दर्शन करा रही हैं। यहाँ २७ भव्य जिन मन्दिर हैं। वे बहुत ही मनोज्ञ हैं। यहाँ संघ के ठहरने व भोजन आदि की व्यवस्था दि० जैन समाज द्वारा बहुत ही प्रेमपूर्वक की गई थी। यहाँ की दि० जैन समाज की तरफ से तथा इसी माफिक विद्यार्थियों की तरफ से पूज्य गुरुदेव को भावपूर्ण अभिनन्दन पत्र दिया गया था।

ग्वालियर से धौलपुर होते हुये ता० १० फरवरी को पू० गुरुदेव आगरा पधारे; यहाँ भव्य

स्वागत हुआ। संघ के ठहरने-जीमने के व्यवस्था यहाँ दि० जैन समाज की तरफ से बहुत ही प्रेमपूर्वक की गई। आगरे में गुरुदेव ३ दिन रहे थे। यहाँ अनेक दर्शनीय जिन मन्दिर हैं। यहाँ भी जैन समाज की तरफ से पू० गुरुदेव को अभिनन्दन पत्र दिया गया। पू० गुरुदेव के हाथों से मंगल साँथिया कराकर यहाँ महावीर दि० जैन कालेज के सरस्वती भवन का शिलान्यास कराया गया।

ता० १३ फरवरी को आगरे से शौरीपुर आये। शौरीपुर नेमिनाथ भगवान की जन्मभूमि है। धन्य वगैरह मुनिगण यहाँ अंतकृत केवली हुये हैं। तथा सुप्रतिष्ठित मुनि को यहाँ केवलज्ञान हुआ था। यहाँ छोटे पर्वत पर खड़गासन प्रतिमा श्री नेमिनाथ भगवान की बहुत ही भव्य है। यहाँ पू० गुरुदेव ने भक्ति भी कराई थी। यह तीर्थस्थान यमुना नदी के किनारे पर है।

ता० १४ फरवरी को शौरीपुर से मथुरा आये। यह अंतिम सिद्ध श्री जम्बूस्वामी का निर्वाणधाम है। उनके चरण कमल हैं तथा सप्तर्षि मुनियों की सुन्दर प्रतिमाएँ हैं, यहाँ पूजन भक्ति बहुत ही भावपूर्वक हुई थी। श्री जम्बूस्वामी के साथ ही श्री विद्युत्मुनि (विद्युत्चोर) आदि ५०० मुनि भी यहाँ से मुक्ति गये हैं। यहाँ मुनिवरों की विशेष भक्ति हुई थी। पू० गुरुदेव द्वारा भावपूर्ण प्रवचन हुआ था, इसके बाद पं० बलभद्रजी द्वारा पूज्य गुरुदेव का स्वागत निमित्त भक्तिपूर्ण भाषण दिया गया था। यहाँ संघ के भोजनादि की व्यवस्था मथुरा के सेठ श्री भगवतीप्रसादजी तथा राजा भगवानदासजी की तरफ से हुई थी।

ता० १६ फरवरी को मथुरा से फिरोजाबाद आये। यहाँ सेठ छदामीलालजी तथा दि० जैन समाज द्वारा उमंगपूर्वक स्वागत हुआ। सेठ श्री छदामीलालजी ने बहुत ही भक्तिभाव प्रदर्शित किये थे। आप यहाँ सोनगढ़ के मानस्तंभ का अनुसरण करते हुये यहाँ एक विशाल मानस्तंभ बन्धवा रहे हैं। इस पर पू० गुरुदेव की प्रवचन सभा का दृश्य तथा उसमें सेठजी खुद गुरुदेव को नमस्कार कर रहे हैं, ऐसा दृश्य उकेरा गया है। एक बहुत ही भव्य विशाल श्री जिन मन्दिर की रचना भी हो रही है। भोजनादि की व्यवस्था यहाँ के संघ की तरफ से प्रेमपूर्वक की गई थी। यहाँ श्री शीतलनाथ भगवान का मन्दिर बहुत ही मनोज्ञ एवं दर्शनीय है। जिसमें कुंदकुंद भगवान का फोटो भी है। एक मंदिरजी में १० फुट ऊँची स्फटिक की प्रतिमा भी है, वह दर्शनीय है। अन्य मन्दिर भी दर्शनीय हैं। यहाँ जैन कालेज व उसी माफिक जैन समाज की तरफ से पू० गुरुदेव को अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया। प्रवचन में ५ हजार करीब जनता ने लाभ लिया था। पू० गुरुदेव के करकमलों द्वारा सरस्वती

भवन, पुस्तकालय के उद्घाटन भी हुये थे। पं० राजेन्द्रकुमारजी वगैरह अनेक विद्वानों ने पू० गुरुदेव के प्रति भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

ता० १७ फरवरी को फिरोजाबाद से मैनपुरी की तरफ आये। बीच में शिकोहाबाद स्टेशन पर कुछ भाइयों ने संघ के जलपान की व्यवस्था प्रेम पूर्वक की थी। मैनपुरी में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन हुआ, तथा जैन समाज ने प्रेम पूर्वक स्वागत भी किया।

मैनपुरी से १८ फरवरी को पूज्य गुरुदेव कानपुर पधारे। यहाँ की जैन समाज ने पू० गुरुदेव का स्वागत किया। तथा संघ के उतरने-जीमने की व्यवस्था भी की थी। तथा प्रवचन में भी जनता ने लाभ लिया था।

ता० १९ को कानपुर से पूज्य गुरुदेव लखनऊ पधारे। जैन समाज ने प्रेमपूर्वक स्वागत किया। जैन बाग में उतरने की व्यवस्था थी। यहाँ के म्यूजियम में बहुत प्राचीन जिन प्रतिमाएँ हैं। जो २००० वर्ष पहले दि० जैन धर्म की जाहोजलाली प्रगट कर रही हैं।

लखनऊ से ता० २० को निकलकर बीच में धर्मनाथ भगवान की जन्मभूमि रत्नपुरी के दर्शन करते हुये पू० गुरुदेव संघ सहित अयोध्या पधारे। अयोध्या तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म की शाश्वत भूमि है। वर्तमान चौबीसी के श्री आदिनाथ आदि पाँच तीर्थंकरों के जन्म कल्याणक यहीं हुए हैं। यहाँ के एक मन्दिर में श्री आदिनाथ भगवान की बड़ी प्रतिमा भी है तथा उनके आजू-बाजू भरत बाहुबलि भगवंतों की बड़ी-बड़ी प्रतिमाएँ विराजमान हैं। यहाँ रात्रि को जन्म कल्याणक संबंधी भावपूर्ण अद्भुत भक्ति बहनश्री बहन द्वारा हुई थी। पू० गुरुदेव इस शाश्वत जन्मधाम में भगवान के दर्शनों से बहुत प्रसन्न हुये।

ता० २१ के दिन पू० गुरुदेव ने संघ सहित पाँचों भगवन्तों के जन्मधाम की यात्रा की... प्रत्येक जगह जहाँ भगवन्तों के चरण कमल थे, वहाँ गुरुदेव ने भाव पूर्वक अर्घ चढ़ाया। श्री आदिनाथ स्वामी की टोंक पर विशेष भक्ति हुई। तथा अनन्तनाथ भगवान की टोंक जो सरयू नदी के किनारे आ गई है, वहाँ भी विशेष पूजा-भक्ति हुई। यात्रा के बाद पू० गुरुदेव का भावपूर्ण प्रवचन हुआ था।

ता० २२ फरवरी के दिन श्री गुरुदेव बनारस (काशी) पधारे। पं० कैलाशचन्दजी, पं० फूलचन्दजी वगैरह अनेक बंधुओं ने प्रेमपूर्वक स्वागत किया। यहाँ जैनियों के घर ३०-४० ही हैं; श्री पार्श्वनाथ वगैरह भगवन्तों की यहाँ जन्मभूमि है। वहाँ संघ सहित यात्रा तथा भावभक्ति हुई थी। यहाँ श्री स्याद्वाद महाविद्यालय (जो कि गंगा नदी के किनारे पर है) का वार्षिक अधिवेशन पू०

गुरुदेव की छत्रछाया में हुआ था। उस वक्त विद्यालय के विद्वान भाइयों ने प्रेम पूर्वक पू० गुरुदेव का सम्मान किया था।

पूज्य गुरुदेव रोज नये-नये तीर्थधामों की यात्रा करते हुये खूब प्रसन्नतापूर्वक विहार कर रहे हैं। तथा गुरुदेव के साथ-साथ संघ भी आनन्दपूर्वक तीर्थयात्रा कर रहा है। पू० गुरुदेव के संघसहित पधारने से इस प्रांत की जैन समाज में भी आनन्द का वातावरण फैलता जा रहा है। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन सुनकर जनता मंत्रमुग्ध हो जाती है। इस प्रकार सौराष्ट्र के ये संत जैनधर्म का प्रभाव फैलाते-फैलाते और नये-नये तीर्थक्षेत्रों की अद्‌भुत यात्रा करते-करते संघ सहित भारत में विचर रहे हैं।

❀ **जय हो जैन शासन की और शासन प्रभावी संतों की** ❀

❀ ❀

गिरनारधाम में गुरुदेव का प्रवचन

['गिरनार यात्रा महोत्सव' के समय जूनागढ़ शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

*** वीर सं० २४८०, माघ शुक्ला १३, भाग-२ ***

इस गिरनार के सहस्त्राम्रवन में भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया था।—वह केवलज्ञान कहाँ से आया। चैतन्य शक्ति में जो सर्वज्ञता थी, वह प्रगट हुई।

जहाँ दोष होता है, वहीं गुण भरे हैं; जहाँ अल्पज्ञता है, वहीं स्वभाव में सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है। जहाँ दु:ख होता है, वहीं त्रिकाली सुखगुण विद्यमान है; जहाँ क्रोध होता है, वहीं त्रिकाली क्षमागुण भरा है;—इस प्रकार क्षणिक दोष और त्रिकाली गुण दोनों एक साथ वर्त रहे हैं। उनमें गुण -स्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन करे तो दोष दूर हो जाये और गुणों की निर्दोश दशा प्रगट हो।

सुख और ज्ञान कहाँ से आयेगा ?

अनादिकाल से संसार में भटकता हुआ आत्मा मुक्त होना चाहता है—सुखी होना चाहता है—त्रिकालवेत्ता सर्वज्ञ होना चाहता है; तो वह सर्वज्ञता कहाँ से आयेगी ? शरीर में से सर्वज्ञता नहीं आयोगी; क्योंकि वह तो जड़ है। राग में से अथवा अल्पज्ञदशा में से भी सर्वज्ञता नहीं आयेगी। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है, स्वभाव में परिपूर्ण सुख एवं सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है; उसी में से सुख तथा सर्वज्ञता प्रगट होती है। इसलिये आत्मा के स्वभाव सामर्थ्य की पहिचान करके उसका अवलम्बन करना, वह हित का उपाय है।

जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे क्या करना चाहिये ?—यह बात चल रही है। पहले ऐसा निर्णय करना चाहिये कि संयोगी वस्तुएँ मुझसे पृथक् हैं, उनमें मेरे हित का उपाय नहीं है और अंतर में परलक्ष से पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्तियाँ होती हैं, उनमें भी मेरा हित नहीं है। अंतर में मेरे ज्ञानस्वभाव में ही मेरा सुख है; उस स्वभाव का अवलम्बन लेने में ही हित है। पर में सुख मानकर अभी तक मैं भटका और अपना अहित किया; पर में मेरा सुख नहीं है। मेरा चैतन्य द्रव्य ही सुख स्वभाव से भरपूर है। वर्तमान क्षणिक पर्याय में अल्पज्ञता और विकार है, किन्तु मेरे द्रव्यस्वभाव में उस विकार का अभाव है; परिपूर्ण केवलज्ञान होने की शक्ति वर्तमान में भी मेरे द्रव्यस्वभाव में विद्यमान है।—इस प्रकार शुद्ध द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर आत्मा के स्वरूप को समझना ही प्रथम करने योग्य कर्तव्य है। वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है। अज्ञानी, जड़ की क्रिया को देखता है, किन्तु वस्तु स्वरूप की सच्ची समझ करके अनादिकालीन अज्ञान को दूर करना तथा अभिप्राय में से तीन काल के परिग्रह की ममता छूट जाना, वह अपूर्व धर्म क्रिया है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। एक समय का सम्यग्दर्शन होने से अनन्त भव का नाश हो जाता है;—ऐसे सम्यग्दर्शन की महिमा की अज्ञानी को खबर नहीं है; उसे आत्मा के सत्व का भान नहीं है।

भगवान आत्मा स्वयं-सिद्ध वस्तु है; उसकी न तो कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है; वह तो त्रिकाल है... है... और है। वस्तुरूप से नित्य स्थायी रहकर उसमें एक अवस्था बदलकर दूसरी होती है। आत्मा के स्वभाव में ज्ञान और आनन्द की परिपूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसका कभी नाश नहीं होता। जिस प्रकार चने के स्वभाव में मिठास की शक्ति है; कचास के कारण वह तूरा मालूम होता है; किन्तु सेकने से उसके स्वभाव का मीठा स्वाद प्रगट हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा में मिठास अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दशक्तिरूप से भरा है, किन्तु उस शक्ति को भूलकर

'रागादि सो मैं'—ऐसी अज्ञानरूपी कचास के कारण उसे अपने आनन्द का अनुभव नहीं है, किन्तु आकुलता का अनुभव है। स्वरूप-सन्मुख होकर उसमें तन्मय होते ही स्वभाव का अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है।

किसके आधार से कल्याण है ?

जिसे अपना कल्याण करना हो, उसे यह निर्णय करना चाहिये कि मेरा कल्याण किसके आधार पर है ? शरीरादिक तो जड़ हैं, उनके आधार से जीव का कल्याण नहीं है; देव-गुरु पर हैं, उनके आधार से भी कल्याण नहीं है; अंतर में शुभवृत्ति उठती है, वह विकार है, उसके आधार से भी कल्याण नहीं है। वर्तमान पर्याय में ज्ञान का विकास है, उतना ही अपने को माने तो उसके आधार से भी कल्याण नहीं है। पर से भिन्न, विकार से भिन्न, अंतर में परिपूर्ण चिदानन्दस्वभाव है, उसी को उपादेय जानकर—मानकर ज्ञान को उसमें एकाग्र करने से अपूर्व आत्मकल्याण होता है।

आत्मा की प्रभुता का सामर्थ्य

अपना शुद्ध उपयोगस्वरूप ध्रुव आत्मा ही मुझे उपादेय है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मुझे उपादेय नहीं है, मेरे ध्रुव आत्मा में ही मेरी प्रभुता भरी है; अन्य किसी के आधार बिना मेरा आत्मा स्वयं ही अपना कल्याण करे - ऐसी मेरी प्रभुता है—इस प्रकार अपनी प्रभुता को पहिचानकर उसका आदर करना, वह प्रथम धर्म है। जिसने आत्मा की प्रभुता की प्रतीति की, उसने प्रभुता की ओर कदम बढ़ाया है; उसे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो गया।

देखो, यह आत्मा की प्रभुता! कोई दूसरा मुझे तार देगा—ऐसा जो मानता है, वह अपनी प्रभुता को नहीं मानता किन्तु स्वयं को पराधीन मानता है, वह संसार का कारण है। भाई! तेरी प्रभुता तुझमें है, तेरा काम कोई दूसरा कर दे या दूसरे का काम तू कर दे—ऐसी पराधीनता नहीं है। कोई कहे कि—यदि आत्मा में प्रभुता है तो वह दूसरों के कार्य क्यों नहीं कर सकता ? तो कहते हैं कि:—आत्मा की प्रभुता आत्मा में काम आती है किन्तु पर में काम नहीं आती। अपने स्वभाव में एकाग्र होकर एक क्षण में केवलज्ञान प्राप्त करे—ऐसी उसकी प्रभुता की शक्ति है; किन्तु पर में एक रजकण को भी बदल सके, ऐसी शक्ति किसी आत्मा में नहीं है। आत्मा की प्रभुता आत्मा में काम आती है किन्तु पर में काम नहीं आती। अपने स्वभाव में एकाग्र होकर एक क्षण में केवलज्ञान प्राप्त करे—ऐसी उसकी प्रभुता की शक्ति है; किन्तु पर में एक रजकण को भी बदल सके, ऐसी शक्ति किसी आत्मा में नहीं है। आत्मा की प्रभुता की ऐसी पहिचान करना, वह अपूर्व धर्म है। मनुष्य भव

पाकर जिसे अपना कल्याण करना हो, उसे यही करने योग्य है। पूर्व अनंतकाल में कभी जो दशा प्राप्त नहीं कर सका, वह अपूर्व दशा जीव सच्ची समझ होने पर प्राप्त करता है। इस सच्ची समझ के बिना अन्य जितने उपाय करता है, वे सब मिथ्या हैं; उनमें आत्मा का किंचित् हित नहीं है।

आत्मा के परिणाम और जड़ की क्रिया-दोनों की स्वतंत्रता

अपने अतिरिक्त शरीरादि पर की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है; शरीर की एक उँगली का हिलाना भी जीव के आधीन नहीं है; अज्ञानी व्यर्थ ही उसमें कर्तृत्व मानकर मिथ्याबुद्धि से संसार में भटकता है। संसार कोई बाहरी वस्तु नहीं है किन्तु जीव का मिथ्या भाव ही संसार है और वह जीव की पर्याय में रहता है।

आत्मा के परिणाम और जड़ की क्रिया—यह दोनों बिलकुल स्वतंत्र वस्तुएँ हैं। मृत्यु के समय किसी जीव को ऐसा विचार आये कि अरे रे! मैंने जीवन भर पाप करके धन इकट्ठा किया, तो अब उसका दानादि में उपयोग करूँ!—ऐसी इच्छा हुई और लड़के से कहने का मन भी हुआ; किंतु भाषा नहीं निकली, और बाह्य में दान की क्रिया नहीं हुई—तो उससे कहीं उस जीव की शुभवृत्ति का फल नहीं जा सकता। यद्यपि शुभभाव कहीं धर्म नहीं है; किन्तु यहाँ तो बतलाना है कि जीव को शुभभाव होने पर भी वैसी भाषा नहीं निकली और न बाह्य में दान की क्रिया हुई; इसलिये बाह्य क्रिया का होना आत्मा के हाथ की बात नहीं है और आत्मा के परिणाम बाह्य क्रिया के आधीन नहीं हैं; किन्तु दोनों स्वतंत्र हैं।

जड़ की क्रिया, विकारी क्रिया, धर्म की क्रिया

अब, जीव अपनी पर्याय में जो शुभ-अशुभभाव करता है, उनसे भी ज्ञायकस्वभाव पृथक् है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव है, वह क्षणिक विकारी वृत्तिरूप नहीं हो जाता।—इसप्रकार जड़ से भिन्न और विकार से भी भिन्न अपने चिदानन्द शुद्ध स्वरूप को दृष्टि में लेना, वह अपूर्व धर्म है। मनुष्य भव पाकर जिसे आत्मकल्याण करना हो उसे अपने शुद्ध स्वरूप को ही ध्येय बनाना चाहिये।

जीव ने शुभभाव किया, इसलिये बाह्य में दानादि की क्रिया हुई—ऐसा नहीं है; बाह्य में दानादि की क्रिया हुई, इसलिये जीव को शुभभाव हुआ—ऐसा भी नहीं है; जीव को शुभभाव हुआ, इसलिये धर्म हुआ—ऐसा भी नहीं है।

बाह्य क्रिया भिन्न वस्तु है, शुभभाव भिन्न वस्तु है और धर्म भिन्न वस्तु है;—तीनों भिन्न-भिन्न

हैं; किसी के कारण कोई नहीं है। बाह्य में पैसादि का आना—जाना वह जड़ की क्रिया है, शुभभावों का होना, वह जीव की विकारी क्रिया है और उन दोनों से पार अंतर के चिदानन्दस्वभावी आत्मा को समझकर उसमें एकाग्रता करना, वह अपूर्व धर्म की क्रिया है। वह धर्म पूर्व प्रारब्ध से (—पुण्यकर्म के उदय के कारण) नहीं होता किन्तु अंतर के वर्तमान प्रयत्न से होता है। जिसप्रकार पैसादि बिना प्रयत्न के पूर्व प्रारब्ध से मिल जाते हैं, उसी प्रकार धर्म नहीं मिल जाता; धर्म तो वर्तमान में आत्मा के अपूर्व प्रयत्न से ही होता है।

संयोग से गुण-दोष नहीं है।

बाह्य संयोग-वियोग तो पूर्व प्रारब्ध के कारण होते हैं; उनसे कहीं जीव को गुण या दोष नहीं है।

- निर्धनता, वह दोष नहीं है;
- सधनता, वह गुण नहीं है;
- रोग, वह अवगुण नहीं है;
- निरोगता, वह गुण नहीं है;
- अप्रतिष्ठा, वह दोष नहीं है;
- प्रतिष्ठा, वह गुण नहीं है।

पूर्व प्रारब्ध के कारण धर्मात्मा को भी कभी-कभी प्रतिकूल संयोग आ जाते हैं, और वर्तमान में कोई जीव पापी हो, तथापि उसे अनुकूल संयोग होते हैं; इसलिये संयोगों से आत्मा को गुण या दोष नहीं है; किन्तु असंयोगी चैतन्यतत्त्व को चूककर संयोगों में ठीक-अठीकपने की मान्यता करना, वह दोष है और असंयोगी चिदानन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्रता करना, वह गुण है। भगवान! अपने तत्त्व को पर के साथ एकमेक मानकर, पर से अपने गुण-दोष मान बैठा है, उस विपरीत मान्यता से अब विमुख हो और पर से पृथक् अपने चिदानन्द तत्त्व की पहिचान कर।

आत्मिक स्वराज्य

अनादिकाल से विपरीत अभिप्राय का मंथन किया है और आत्मा की यथार्थ समझ कभी नहीं की, इसलिये सत्य को समझना कठिन मालूम होता है; किन्तु सच्ची समझ के बिना कभी कल्याण नहीं हो सकेगा। यदि आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता और स्वराज्य चाहिये हो; तथा भव भ्रमण

के दु:ख से छूटना हो तो यह बात समझना ही पड़ेगी। 'स्व-राज्य' अर्थात् आत्मा की शोभा; जिसमें आत्मा अपनी प्रभुता से शोभायमान हो, उसका नाम सच्चा स्वराज्य है। संयोग से आत्मा की शोभा नहीं है। पर में सुख मानना अथवा पर से आत्मा की शोभा मानना, वह तो महान पराधीनता है। चिदानंदस्वभाव में ही मेरा सुख है—ऐसी स्वाश्रयबुद्धि करना और पराश्रयबुद्धि छोड़ना, वह सच्चा स्व-राज्य है, और उसमें अपनी स्वतंत्र प्रभुता से आत्मा शोभायमान है।

आनन्द के निधान अंतर में ही हैं

श्रीमद् राजचन्द्रजी छोटी उम्र में कहते हैं कि—

'सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो! राची रहो?'

—बाह्य इन्द्रिय विषयों में सुख मानने से अंतरंग स्वभाव का अतीन्द्रियसुख चूक जाते हैं। बाह्य में मेरा सुख नहीं है, मेरा सुख तो मेरे अंतर स्वभाव में ही है—ऐसा विश्वास करके अंतर के चिदानन्द तत्त्व का मनन करो। एक बार ऐसी पहिचान करके आत्मा के परम सत्य की भनक तो उत्पन्न करो। चैतन्य तत्त्व की भनक के बिना बाह्य में सुख मानकर अनादिकाल से जीव प्रतिक्षण भावमरण कर रहा है। यदि एक क्षण भी आत्मा का सत्य स्वरूप समझ ले तो भावमरण दूर हो जाये और अल्पकाल में मुक्ति हो! अहो! मेरी वस्तु तो अंतर के ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है, आनन्द के निधान मुझमें ही भरे हैं, किन्तु उन्हें चूककर अभी तक मैं बाह्य में भटकता रहा; तथापि मेरे चैतन्य निधान ज्यों के त्यों परिपूर्ण हैं—इस प्रकार अंतर वस्तु का स्वीकार करना और उसकी महिमा करके स्वसन्मुख होना, वह अपूर्व आत्मकल्याण का मूल है।

जीवन का ध्येय

दोष दूर करके निर्दोषता प्रगट करना है तो उसका अर्थ यह हुआ कि दोष के समय भी जीव के मूलस्वभाव में निर्दोषता भरी है। यदि स्वभाव में निर्दोषता का सामर्थ्य न हो तो पर्याय में निर्दोषता आयेगी कहाँ से? दोष के समय उस दोष जितना ही आत्मा का स्वरूप नहीं है, किन्तु दोष के अभावरूप पूर्ण द्रव्यस्वरूप है। उसी प्रकार अल्पज्ञता के समय उस अल्पज्ञता जितना ही आत्मा नहीं है किंतु द्रव्य में सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है। पर्याय में भले ही अल्पव्यक्त हो, किंतु द्रव्य स्वभाव में परिपूर्ण सामर्थ्य है। इसलिये पर्यायबुद्धि छोड़कर परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करना, वह मनुष्य जीवन का ध्येय है। जिसे आत्मा की प्रतीति करना हो और हित करना हो, उसे ऐसे ध्येय

को लक्ष में रखकर जीवन जीना चाहिये। भले ही अमुक हद तक रागादि होते हों, किन्तु वह मेरा ध्येय नहीं है और न उसमें मेरा हित है—ऐसा समझना चाहिये।

जहाँ दोष होता है, वहीं गुण भरे हैं

पर से भिन्न और पुण्य-पाप रहित निरूपाधिक चैतन्यतत्त्व को जीव ने कभी ध्येयरूप नहीं बनाया, और न उसकी रुचि की है; विकार की रुचि करके उसी को ध्येय बनाया है। क्षणिक विकार के पीछे उसी समय शक्तिरूप से त्रिकाली निर्विकार स्वभाव आत्मा में विद्यमान है, किन्तु जीव को अपने स्वरूप का विश्वास नहीं आता। लकड़ी को क्रोध नहीं होता और न उसमें क्षमागुण है; जीव की अवस्था में क्रोध होता है और उसके पीछे त्रिकाली क्षमागुण विद्यमान है। जहाँ गुण हो, वहाँ उसकी विकृति से दोष होता है। दोष क्षणिक है और गुण त्रिकाल है। जहाँ दोष होता है, वहाँ उस दोष के पीछे त्रिकाली निर्दोष गुण विद्यमान है। जैसे कि—जहाँ क्रोध है, वहीं त्रिकाली क्षमा-गुण विद्यमान है; जहाँ दुःख है, वहीं त्रिकाली सुखगुण विद्यमान है; जहाँ अल्पज्ञता है, वहीं स्वभाव में सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है।—इस प्रकार क्षणिक दोष और त्रिकाली गुण दोनों एक साथ ही वर्त रहे हैं, किन्तु वहाँ गुणों को भूलकर अज्ञानी अपने को दोषों जितना ही मानता है; तो फिर दोष किसके अवलम्बन से दूर हों? क्षणिक विकृति जितना मैं नहीं हूँ किन्तु मैं तो त्रिकाली स्वभाव हूँ—ऐसा भान करके स्वभाव का अवलम्बन करे तो दोष दूर होकर गुणों की निर्दोष दशा प्रगट हो। उसका नाम धर्म है।

कर्म परिभ्रमण नहीं कराते और भगवान तारते नहीं हैं

आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण है और पर से शून्य है; कोई दूसरा उसे भटकानेवाला नहीं है और न कोई दूसरा तारनेवाला है। स्वभाव को भूलकर स्वयं भटकता है, और 'मैं अपने स्वभाव से ही परिपूर्ण हूँ'—ऐसी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना, वह तरने का उपाय है। कर्म मुझे परिभ्रमण कराते हैं और भगवान तारते हैं—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, किन्तु भाई! कर्मों का तो तेरे आत्मा में अभाव है, तो वे तुझे कैसे परिभ्रमण करा सकते हैं? कर्मों ने तुझे नहीं भटकाया है किन्तु तू अपनी ही भूल से भटका है और भगवान किसी को तारते नहीं हैं। यदि भगवान तारते हों तो अभी तक क्यों नहीं तारा? वास्तव में जो ऐसा मानता है कि भगवान मुझे तारते हैं, वह भगवान की आसातना करता है; क्योंकि 'हे भगवान! अब तो तू मुझे तार!'—इसका यह अर्थ हुआ कि अभी तक तूने ही मुझे संसार में भटकाया है;—इसलिये उसने वास्तव में भगवान की स्तुति नहीं की

किन्तु उनकी विराधना की है, निंदा की है। कर्म संसार में भटकाते हैं और भगवान मोक्ष देते हैं, इसलिये आत्मा को तो कुछ करना ही नहीं रहा; आत्मा तो कर्म और भगवान के बीच ही लटकता रहा!—किन्तु ऐसा नहीं है। संसार और मोक्ष दोनों में आत्मा स्वतंत्र है; आत्मा स्वयं ही अपने संसार का या मोक्ष का कर्ता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं है। अपने स्वभाव को भूलकर पर के साथ एकत्व की मान्यता से जीव ने स्वयं ही संसार खड़ा किया है, और पर से भिन्न अपने शुद्ध ज्ञानानन्द आत्मस्वभाव का यथार्थ श्रवण-मनन करके उसकी सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान तथा रमणता प्रगट करना, वह मोक्ष का उपाय है। प्रथम, सत्समागम से सत्य का श्रवण करके, उसे लक्ष में लेकर सत्य का पक्ष करना, वह धर्म के प्रारम्भ का उपाय है। इसलिये यह जो सत्य कहा जा रहा है, उसका लक्ष करके सत्य का पक्ष करो और असत्य का पक्ष छोड़ो!

नेमिनाथ भगवान ने क्या किया?—जीवन का सच्चा ध्येय क्या?

इस गिरनार के सहस्राम्रवन में भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया। वह केवलज्ञान कहाँ से आया? चैतन्यशक्ति में जो सर्वज्ञता थी, वही प्रगट हुई है। भगवान को चैतन्यशक्ति का भान तो पहले से ही था; फिर उस चैतन्यशक्ति में उग्र एकाग्रता द्वारा राग का नाश करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में केवलज्ञान शक्ति भरी है, उस स्वभावशक्ति का ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना, वह केवलज्ञान प्रगट करने की रीति है। इसलिये जिज्ञासु को भगवान जैसे अपने आत्मस्वभाव की पहिचान करना, वही प्रथम कर्तव्य है और वही धर्म के प्रारम्भ की अपूर्व क्रिया है। आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति करके अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट करना, वह जीवन का सच्चा श्रेय है। उसके बदले जीवन में सच्ची श्रद्धा भी नहीं की, आत्मा की समझ प्रतीति भी नहीं की, उसने वास्तव में यह मनुष्य भव पाकर कुछ नहीं किया।

'सौराष्ट्र में तीन कल्याणक प्राप्त वैराग्य मूर्ति श्री नेमिनाथ भगवान की जय हो!'

भवदुःख से छूटने का उपाय

हे भाई! यदि तुझे अनंतकाल के परिभ्रमण का अंत करना हो... और आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का अनुभव करना हो, तो यहाँ संत उसकी रीति बतलाते हैं।

पूर्वकाल में जीव ने कभी एक क्षण भी आत्मज्ञान नहीं किया। आत्मज्ञान अपूर्व वस्तु है; आत्मज्ञान किये बिना कभी किसी का कल्याण नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना जीव भले ही शुभराग करे और पुण्यबंध करके स्वर्ग में जाये, किन्तु उससे भव भ्रमण के दुःख का अंत नहीं आता। यह तो अनादिकालीन भवभ्रमण के दुःख का अंत कैसे आये और अपूर्व आत्मसुख की प्राप्ति कैसे हो, उसकी बात है। अरे जीव! अनंतकाल में दुर्लभ ऐसा यह मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ और सत्समागम मिला; उस समय यदि आत्मा की दरकार करके सत् न समझा और आत्मज्ञान नहीं किया तो आयु पूर्ण होने पर मनुष्य अवतार को हार जायेगा। इसलिये हे भाई! यह अवसर प्रमाद में गँवाने जैसा नहीं है। इस मनुष्य भव में जन्म लेकर अपने सच्चे आत्मस्वरूप की पहिचान करना; उसकी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की आराधना द्वारा भवभ्रमण का नाश करना, तथा अपूर्व मोक्षसुख प्रगट करना—यही जीव का ध्येय है।

मोक्षदशा का वास्तविक सुख कहीं बाहर से नहीं आता, किंतु आत्मा के स्वभाव में ही वह सुख भरा है, उसी में से प्रगट होता है; किंतु अज्ञानी को बाह्य दृष्टि के कारण वह सुख अनुभव में नहीं आता; सुख के बदले उसे दुःख का अनुभव होता है, और वही संसार है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि:—

''उपजे मोह विकल्प से समस्त आ संसार,
अंतर्मुख अवलोकतां विलय थतां नहिं वार॥''

अंतर की स्वभावशक्ति का भूलकर 'बाह्य में सुख है'—ऐसी कल्पनारूप जो मोह, वही संसार का मूल है, वही दुःख का घर है... अंतर में चैतन्यशक्ति आनंद से परिपूर्ण है; उसमें अंतर्मुख होकर अवलोकन करे तो क्षणमात्र में अनादिकालीन मोह का नाश हो जाये और अपूर्व सुख का अनुभव हो।

''कोटि वर्षनुं स्वप्न पण जागृत थतां शमाय,
तेम विभाव अनादिनो ज्ञान थतां दूर जाय॥''

निद्रा अवस्था में स्वप्न आने पर करोड़ों वर्ष पहले की बात देखता है—महल आदि देखता है; किंतु आँख खुली कि सब अदृश्य हो जाता है; उसीप्रकार अज्ञानदशारूपी निद्रा में मिथ्याकल्पना से पर में सुख-दुःख मानकर अनादि से विभाव किये हैं, किंतु जहाँ आत्मा का सम्यक्ज्ञान किया, वहाँ वे विभाव छूट जाने में देर नहीं लगती। इसलिये संत कहते हैं कि अरे जीव! एकबार तो अपनी चैतन्यशक्ति की सँभाल एकबार तो अपने आत्मा की ओर दृष्टि डाल! जिस प्रकार विशाल सागर उछल रहा हो, किंतु देखनेवाला आँखें बन्द कर ले तो कैसे दिखाई देगा? समुद्र तो सामने ही भरा पड़ा है, किंतु आँखें खोलकर देखे, तभी दिखाई देगा न? उसीप्रकार आत्मा स्वयं ही ज्ञान-आनन्द से भरपूर विशाल चैतन्य-समुद्र है; किंतु शरीर, सो मैं और राग जितना ही मेरा स्वरूप है—ऐसी भ्रमणा के कारण अज्ञानी उस चैतन्य समुद्र को नहीं देखता। यदि ज्ञानचक्षु खोलकर अंतर में देखे तो, भगवान आत्मा, देह से तथा रगा से पार, ज्ञान और आनंद से परिपूर्ण चैतन्य-समुद्र उछल रहा है—वह दिखाई दे। अपनी चैतन्यशक्ति का अवलम्बन लिये बिना भव दुःख से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

हे भाई! यदि तुझे अनंतकाल के इस परिभ्रमण का अंत करना हो... और आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का अनुभव करना हो तो उसकी यह रीति है कि सत्समागम से बारम्बार आत्मा का श्रवण-मनन करके, अंतरंगरुचि से उसका निर्णय कर, उसकी परम महिमा लक्ष में ले... उसी की भावना भा! अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की तूने कभी संभाल नहीं की, इसलिये तुझे कठिन मालूम होता है; किंतु यदि सत्समागम से उसका यथार्थ प्रयत्न करे तो आत्मा की अपूर्व पहिचान हुए बिना न रहे। अपने स्वभाव की प्राप्ति करना तो सुगम है।

आत्मा के स्वभाव का बारम्बार श्रवण-मनन करना, उसमें कहीं पुनरुक्ति दोष नहीं है। जिसे जिसकी रुचि हो, वह उसकी बारम्बार भावना भाता है। 'भावना से भवन होता है' अर्थात् शुद्ध आत्मस्वभाव की बारम्बार भावना करने से भवन-परिणमन हो जाता है। इसलिये जबतक आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव न हो, तबतक सत्समागम से बारम्बार प्रीतिपूर्वक उसका श्रवण-मनन और भावना करते ही रहना चाहिये। आत्मा की प्रभुता अपने में ही भरी है, किन्तु स्वयं अपने स्वभाव सन्मुख होकर उसकी दृष्टि नहीं करता, इसलिये भवभ्रमण होता है। यदि अंतर्दृष्टि करके आत्मा की प्रभुता का अवलोकन करे तो अल्पकाल में भवभ्रमण का नाश हो जाता है—यह भवभ्रमण के नाश की रीति है। *[- पूज्य गुरुदेव के विहारकाल के प्रवचनों से]*

सम्यग्दर्शन का उपाय

****

❀ शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का उपदेश ❀

[श्री समयसार गाथा १३ पर सुरेन्द्रनगर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(वीर सं० २४८०, वैशाख कृष्णा १२)

श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि शुद्धनय से देखने पर अर्थात् आत्मा के एकाकार स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से वह शुद्धरूप से अनुभव में आता है और उसका नाम सम्यक् दर्शन है... ऐसे अनुभव से ही अनादिकालीन मिथ्यात्व का नाश होकर अपूर्व मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है; इसलिये शुद्धनय के अवलम्बन से ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये—ऐसा संतों का उपदेश है।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन का उपाय बतलाया है। अनादिकालीन मिथ्यात्व की क्रिया कैसे दूर हो और अपूर्व सम्यग्दर्शन की क्रिया कैसे हो, उसकी यह बात है। भाई! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है; वह देहादि के संयोग से पार और पुण्य-पाप की क्रिया से भी पार है। देह का तो क्षणिक नवीन संयोग हुआ है, वह छूट जायेगा; इसलिये देह से भिन्न आत्मा क्या वस्तु है, उसकी पहिचान कर ले। आत्मा की पहिचान करने के लिये उसके ज्ञान का बारम्बार मंथन करना चाहिये। पहाड़े सीखने के लिये उन्हें बारम्बार घोंटता है; उसी प्रकार अनन्त काल में नहीं हुई ऐसी आत्मा की समझ के लिये उसका सत्समागम से बारम्बार श्रवण-मनन करना चाहिये। जगत में सर्वज्ञ भगवान ने नवतत्त्व देखे हैं, उनका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे बराबर पहिचानना चाहिये; नव तत्त्वों को जानकर ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में एकाग्र होना और नव तत्त्वों के भेद का विकल्प भी छूट जाना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन की रीति है। भगवान आत्मा स्थिर चैतन्यतत्त्व है; उसके अवलम्बन से निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

देखो, स्वच्छ दर्पण में आम और जामुन, सुवर्ण और कोयला, अग्नि और बर्फ, मोर और कौआ तथा वस्त्र—ऐसी नौ वस्तुओं का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; वहाँ बाहर की नौ वस्तुएँ तो दर्पण से पृथक् ही हैं; दर्पण में नौ प्रतिबिम्ब दिखाई देने से वह कहीं नौ प्रकार खण्ड-खण्डरूप नहीं हो गया है, किन्तु अपनी एकरूप स्वच्छता स्वरूप ही है; उसके स्वच्छ स्वभाव का ही वह

परिणमन है।—ऐसी प्रतीति-पहिचान करे तो दर्पण के स्वभाव को जाना कहा जायेगा। उसी प्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ऐसे नव तत्त्व आत्मा के ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होते हैं; वहाँ ज्ञान में नव तत्त्व ज्ञात होने से ज्ञान कहीं नौ प्रकार का खंड-खंडरूप नहीं हो गया है, किंतु एकरूप ज्ञान की स्वच्छ दशा का वैसा परिणमन है। नव तत्त्व को जानते हुए ज्ञान उन नव तत्त्वों के विकल्परूप परिणमित नहीं हो जाता, किन्तु विकल्प से पृथक् रहता है। इस प्रकार नव तत्त्वों के भेद के विकल्प से भिन्न ऐसे ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके एकरूप भूतार्थ ज्ञानानन्द स्थिर स्वभाव को अनुभव में लेने का नाम सम्यग्दर्शन है, वह धर्म की प्रथम भूमिका है।

धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वरूप है। बाह्य पदार्थ ज्ञात होते हैं, वह मेरे स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का ही सामर्थ्य है, उसी से ज्ञात होते हैं।

'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी'—मेरे ज्ञान की ही ऐसी स्व-पर प्रकाशक शक्ति है कि ज्ञान स्वभाव को जानते हुए नवतत्त्वों को भी जानती है। धर्मी जानता है कि पुण्यतत्त्व मेरे ज्ञान में ज्ञात होता है, किन्तु पुण्य के साथ मेरा ज्ञान एकमेक नहीं हो गया है। पुण्य होता है, वह मेरी अवस्था की योग्यता है और वह मेरे ज्ञान का ज्ञेय है—इसप्रकार धर्मी, पुण्यतत्त्व को जानता है। कोई ऐसा माने कि मुझमें विकार होने की योग्यता अवस्था में भी नहीं है, किन्तु जड़कर्म मुझे विकार कराते हैं; निमित्तों के कारण मुझे पुण्य भाव होता है; तो उसने सचमुच पुण्यतत्त्व को नहीं जाना है और न पुण्य को जाननेवाले अपने ज्ञान सामर्थ्य की भी उसे खबर है। भाई! पुण्य और पाप—इन दोनों तत्त्वों का अस्तित्व भी तेरी अवस्था में है—ऐसा तू जान। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में तो पुण्य-पाप होने की योग्यता नहीं है, किन्तु क्षणिक अवस्था में जो पुण्य-पाप होते हैं; वे अपनी अवस्था की योग्यता से ही होते हैं—ऐसा जाने तो वह पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर ध्रुव स्थायी ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता करे, वह सम्यग्दर्शन की रीति है। ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर भी जीव को देव-गुरु-धर्म की भक्ति-बहुमान का भाव आये तथा पाप का भाव भी हो जाये, किन्तु वहाँ धर्मी जानता है कि यह पुण्य-पाप दोनों तत्त्व क्षणिक हैं, मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप के साथ उनकी एकता नहीं हुई है; मैं तो स्थिर ज्ञान हूँ और यह पुण्य-पाप मेरा ज्ञेय हैं। ज्ञेय कैसा?—कि मेरी अवस्था की क्षणिक योग्यता है-ऐसा धर्मी जानता है; किन्तु दूसरे ने मुझे यह विकार कराया है—ऐसा धर्मी नहीं मानते।

नवतत्त्वों के विकल्प धर्मी को भी आते हैं, किन्तु वहाँ एकताबुद्धि नहीं है। उसमें देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा का शुभभाव भी आता है और उस समय भगवान या भगवान की

वीतरागी प्रतिमा आदि निमित्तों पर लक्ष जाता है। भगवान की भक्ति का ऐसा शुभभाव तथा ऐसे निमित्त होते हैं, उन्हें यदि स्वीकार ही न करे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे पुण्यतत्त्व की खबर नहीं है और जो ऐसा मानता है कि यह शुभभाव करते-करते मुझे सम्यग्दर्शन हो जायेगा तो उसे भी पुण्यतत्त्व अथवा संवरतत्त्व की खबर नहीं है; वह भी मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो कहते हैं कि नव तत्त्व के भेदों पर लक्ष रहे, तब तक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। नवतत्त्व के भेदों का अवलम्बन छोड़कर एकाकार स्थिर एक ज्ञानस्वरूप का ही अवलम्बन करके निर्विकल्प प्रतीति हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

अपनी अवस्था में क्षणिक पुण्य की वृत्ति हो, वह अपनी पर्याय की क्षणिक योग्यता है और उसमें निमित्तरूप से जड़ पुण्यकर्म का उदय है—ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को धर्मी जानता है, किन्तु इस क्षणिक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जितना मेरा चैतन्यतत्त्व नहीं है; मेरा चैतन्यतत्त्व, पुण्य-पाप से पार है—इसप्रकार धर्मी की दृष्टि अपने स्थिर ज्ञानस्वरूप पर पड़ी है; उस दृष्टि में नवतत्त्व के विकल्पों का अभाव है और एकाकार ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव है। इस प्रकार नव तत्त्वों में से एकाकार ज्ञानानन्दस्वभाव का अनुभव करना-निर्विकल्प प्रतीति करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन का उपाय है और इसी उपाय से धर्म का प्रारम्भ होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि शुद्धनय से देखने पर अर्थात् आत्मा के एकाकार स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर वह शुद्धरूप से अनुभव में आता है तथा उसका नाम सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्वों के भेद के निकट रहकर अथवा विकल्प के निकट रहकर आत्मा की शुद्धता का अनुभव नहीं हो सकता, अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रतीति में अथवा ज्ञान में नहीं आता। भेद से दूर और अभेद के निकट होकर, विकल्प से दूर और ज्ञायकस्वभाव के निकट होकर अनुभव करने पर, द्रव्य-पर्याय की एकतारूप शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव से ही अनादिकालीन मिथ्यात्व का नाश होकर अपूर्व मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। इसलिये शुद्धनय के अवलम्बन से ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव करने का संतों का उपदेश है।

इस देह में रहनेवाला प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है; शुद्ध चैतन्य और आनन्द उसका मूल स्वभाव है। अल्पज्ञता और विकार उसका मूल स्वरूप नहीं है; किन्तु अपने मूल स्वरूप को भूलकर विकार, सो मैं तथा पर के कार्य मुझसे होते हैं—ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण चार गति में

परिभ्रमण करता है। संसार में परिभ्रमण करते हुए पुण्य करके अनंत बार स्वर्ग में गया, तथा पाप करके अनंत बार नरक में गया; तिर्यंच और मनुष्य में भी अनंत जन्म-मरण किये; किन्तु मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप क्या है, उसका यथार्थ विचार एक सेकंड भी कभी नहीं किया। आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर सम्यग्ज्ञान हो तथा परिभ्रमण दूर हो, उसकी यह बात है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अनुभव बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अनादि से आत्मा ने अपने को देहरूप तथा रागरूप अशुद्ध ही माना है और उसी का अनुभव किया है; किन्तु देह से पार तथा राग से भी पार जो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे न तो कभी जाना है और न अनुभव किया है। क्षणिक पर्याय में अशुद्धता तथा संयोग होने पर भी, आत्मा का स्वभाव उस रूप नहीं हो गया है; इसलिये यदि भूतार्थ दृष्टि से आत्मा के स्वभाव को देखें तो आत्मा शुद्ध स्वभावरूप दिखाई देता है—अनुभव में आता है; और आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव होने पर 'रागादि, सो मैं तथा देहादि, सो मैं'—ऐसी अनादिकालीन भ्रम बुद्धि दूर हो जाती है.. यह मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है और फिर उस शुद्ध आत्मा के ही अनुभव से पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है तथा रागादि का अभाव होकर पूर्ण शुद्धदशारूप परमात्मपद प्रगट होता है। इसलिये भूतार्थ स्वभाव-सन्मुख होकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करो-ऐसा भगवान का उपदेश है।

भावशुद्धि का उपदेश

भावप्राभृत गाथा ६८ से ७१ के प्रवचनों से

सम्यग्दर्शन के बिना मात्र बाह्य नग्नता से ही जो अपने को मुनि मानता है, उसे सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! सम्यग्दर्शनादि जिनभावना के बिना मात्र बाह्य नग्नता से तुझे क्या लाभ? अंतर में राग की भावना विद्यमान है, वह मिथ्यात्व है तथा वही दु:ख का मूल है। धर्मी को तो यही भावना है कि मैं ज्ञानानन्द शुद्ध आत्मा हूँ; राग होने पर भी सम्यक्त्वी को उसकी भावना नहीं है, उसे तो शुद्ध ज्ञानमूर्ति आत्मा की भावना है और उसी का नाम जिनभावना है। ऐसी जिनभावना ही रत्नत्रय का कारण है तथा वही मोक्षमार्ग है।—ऐसी जिनभावना के बिना बाह्य में नग्नता हो और पंच महाव्रत का पालन करता हो, तथापि उसे धर्म का किंचित् लाभ नहीं है; राग की भावना के कारण वह दु:ख ही प्राप्त करता है। शरीर का एक रजकण भी मेरा नहीं है, नग्नदशा का कर्ता मैं नहीं हूँ; और अंतर में शुभराग की वृत्ति उठे, उससे भी मेरे आत्मा को लाभ नहीं है; मैं तो देह से तथा राग से पार ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसा भेदज्ञान करके जो जिनभावना नहीं भाता किन्तु राग की भावना भाता है, वह भले ही नग्न रहता हो, तथापि दु:ख ही प्राप्त करता है। शरीर की नग्नता कहीं सुख का या मोक्षमार्ग का कारण नहीं है। अंतर में शुद्ध आत्मा की भावनारूप जो जिन-भावना है, वही भावलिंग है, और वह जिनभावना ही सुख का कारण तथा मोक्षमार्ग है। भावलिंगी दिगम्बर मुनि अंतर में ऐसी जिनभावना द्वारा ही सुखी हैं। मूढ़ जीव, राग की भावना करके उसे सुख का कारण या मोक्षमार्ग मानते हैं, किंतु वे मिथ्यादृष्टि हैं। वे महान राजपाट या रानियाँ छोड़कर भले ही त्यागी हुए हों, नग्न होकर पाँच महाव्रतों का पालन करते हों, किन्तु आत्मा क्या वस्तु है - उसका भान नहीं है और राग करते-करते कल्याण हो जायेगा—ऐसी राग की भावना भा रहे हों तो वे प्राणी खेदखिन्न दु:खी ही हैं। आत्मा शांति का सागर है, उसकी तो अंतर में दृष्टि नहीं है तो फिर सुख कहाँ से लायेगा? भावलिंगी दिगम्बर संत अंतर में चैतन्यपिण्ड आत्मा के अनुभव से सुखी हैं।

अब, जो अज्ञानी जीव मात्र बाह्य नग्नता से ही मुनिपना मानता है और अंतर में जिनभावना नहीं भाता,—उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे मुनि! तू अंतर में चैतन्यस्वभाव के साथ आत्मा

की एकता नहीं करता और राग की भावना भाता है; तथा अन्य संतों का दोष निकालता है—तो ऐसे ईर्ष्याभाव से तेरा अहित ही होगा... भाई! अंतर में गुणी के साथ एकता करके तूने गुण प्रगट नहीं किये तो अंतर में तू मात्र पर के दोष ही देखेगा.... अपने स्वद्रव्य के साथ पर्याय की प्रतियोगिता (-तुलना) न की तो दूसरों के साथ प्रतियोगिता करके तू ईर्ष्या से दुःखी होगा। धर्मी तो अंतर्दृष्टि से पर्याय को द्रव्य के साथ एक करते हैं, इसलिये अपने में द्रव्य के आश्रय से पर्याय की शुद्धता करते हैं और दोष दूर होते जाते हैं शुद्ध स्वभाव की भावना के अतिरिक्त अवकाश ही कहाँ है कि किसी के दोष देखने में रुकें? अज्ञानी मूढ़ जीव को शुद्ध आत्मा की तो भावना नहीं है और बाह्य में दूसरों के दोष देखने में ही रुकता है... दूसरों की ईर्ष्या से अवकाश मिले, तभी अंतर में जिनभावना भायेगा न! चिदानन्दस्वभाव की तो भावना नहीं है और न उसकी खबर है, तथापि बाह्य में नग्न होकर मुनिपना मना ले, तो उसमें धर्म की अप्रभावना होगी। क्योंकि अंरतंग भावना के बिना मुनि नाम धारण करके हास्य-ईर्ष्या-कषायादि भावों में प्रवर्तन करे तो उससे व्यवहार-धर्म की हँसी होती है। इसलिये यहाँ उपदेश है कि-भाई! अंतर में सम्यग्दर्शन प्रगट करके तू जिन-भावना भा, भावशुद्धि कर। भावशुद्धि के बिना मात्र नग्नपना तो निरर्थक है; भावशुद्धि के बिना मुनिपना कभी नहीं होता।

हे आत्मा! तू अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध भावलिंग को धारण कर... अंतरंग में भाव दोष से रहित अत्यन्त शुद्ध ऐसे जिनवर लिंग को धारण कर। ऐसे अंतरंग भावलिंग सहित निर्ग्रन्थरूप द्रव्यलिंग को धारण कर। अंतर में भावलिंग के बिना तो द्रव्यलिंग भी बिगड़ जायेगा। इसलिये यहाँ अंतर में भावशुद्धि का प्रधान उपदेश है। भावशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव; वह भावशुद्धि ही मोक्ष का कारण है।

जो जीव अंतर में भावशुद्धि प्रगट नहीं करता, सम्यग्दर्शन या उत्तम क्षमादि धर्मों को धारण नहीं करता और नग्न होकर अपने को मुनि मानता है, वह वास्तव में मुनि नहीं है किन्तु नट-श्रमण है; अर्थात् नट की भाँति उसने मात्र नग्न भेष धारण किया है।—वह कैसा है?—तो कहते हैं कि अंतर में गुणरहित मात्र दोष का ही स्थान है। इक्षु के फूल की भाँति उसमें कोई गुण नहीं है। जिस प्रकार इक्षु के फूल में न तो सुगन्ध होती है और न उसमें कोई फल लगता है; उसी प्रकार अंतर में भावशुद्धि के बिना मात्र श्रमण के बाह्य वेश से वर्तमान में उसके कोई सुगन्ध अर्थात् शांति या गुण नहीं है और भविष्य में उसका कोई फल नहीं है अर्थात् वह कहीं मोक्ष फल का कारण नहीं है।

मोक्ष फल देनेवाली तो जिनभावना है; इसलिये हे जीव! मेरा स्वरूप अमृत चिदानन्द स्वरूप है—ऐसी जिनभावना भा!

सम्यग्दर्शनादि रहित नग्नता तो भाँड के वेष जैसी दिखाई देती है... अरे! भाँड भी शृंगार करके नाचे तो लोक में शोभा पाता है... किन्तु सम्यग्दर्शनादि रहित मात्र नग्नवेष तो हास्य का स्थान है। इसलिये हे भाई! मात्र बाह्य नग्नता में मुनिपने की मान्यता को छोड़ और अंतर में चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करके जिनभावना भा।—इसके बिना मुनिपना नहीं होता। जिनशासन में सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों की प्रधानता है और उसे अंगीकार करने का प्रधान उपदेश है।

सम्यक्त्व की महिमा सूचक

प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्न—श्रावकों को क्या करना चाहिये?

उत्तर—हे श्रावकों! संसार के दु:खों का क्षय करने के लिये परम शुद्धसम्यक्त्व को धारण करके और उसे मेरुपर्वत समान निष्कंप रखकर उसी को ध्यान में ध्याते रहो।

(—मोक्षपाहुड़ गाथा ८६)

(२) प्रश्न—सिद्धि काहे से होती है?

उत्तर—सम्यक्त्व से ही सिद्धि होती है—अधिक क्या कहें! भूतकाल में जो महात्मा सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब इस सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है—ऐसा जानो।

(—मोक्षपाहुड़ गाथा ८८)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	जैन बालपोथी	।)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५- ६-७-८-१० वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ लेने
वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।